

कृषि प्रधान देश में बेमौत मरते किसान

पावली से एक दिन पूर्व महाराष्ट्र में पुलिस की गोलीबारी में दो किसानों की मौत ने दीवाली को बेरौनक कर दिया। अपनी मांगों को मनवाने के लिये अहिंसक प्रदर्शन कर रहे किसानों पर गोलीबारी करना कृषि प्रधान और लोकतांत्रिक राष्ट्र के लिये शर्म की बात है। पुलिस की गोली से किसानों की मौत बर्बर अंग्रेजी राज की याद दिलाती है, जब अपना हक मांगने पर किसानों, क्रांतिकारियों और आंदोलनकारियों को पुलिस के डण्डे, जूतों और गोली का शिकार होना पड़ता था। देश को आजाद हुए छह दशकों से अधिक समय हो चुका है लेकिन पुलिस की कार्यशैली और प्रशासनिक रवैये में मामूली बदलाव और सुधार ही आ पाया है। पिछले दो दशकों में पुलिस और किसानों के बीच जिस तरह से संघर्ष की घटनाएँ बढ़ रही हैं वो चिंता का विषय है। भूमि अधिग्रहण से लेकर फसलों के लाभकारी मूल्य तक किसान को हर कदम पर पुलिस, प्रशासन और सरकार से लड़ई करनी पड़ती है। सरकार की हठधर्मिता और प्रशासन के नकारेपन से झुंझलाए किसान जब हिंसा पर उतारू होते हैं तो पुलिस-प्रशासन गोली और डंडों से किसानों की आवाज दबाने का काम करता है।

स्वतंत्रता इस मूल अवधारणा पर आधारित है कि व्यक्ति अपनी भावना को सही अभिव्यक्ति दे सके और अपनी आजीविका को सुचारु रूप से चला सके। इस नजरिए से समाज के प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति के वैधानिक अधिकार की रक्षा करना शासक का कर्तव्य हो जाता है। लोकतंत्र में वैधानिक अधिकारों की रक्षा इसलिए सुनिश्चित मानी जाती है। क्योंकि सरकार किसको बनाना है यह जनता ही तय करती है। पर आजाद भारत में देखें तो किसानों के वैधानिक अधिकारों की रक्षा नहीं हो रही है। वह शासकीय तंत्र का गुलाम बनकर रह गया है। किसान खुद अपनी भूमि के स्वामी नहीं हैं, जिससे उन्हें हर तरह के शोषण का सामना करना पड़ता है। अंग्रेजी हुकूमत ने किसानों के



शोषण के जो तमाम उपाय व नियम-कानून बनाए थे वे कमोबेश आज भी बदस्तूर जारी हैं। भू-राजस्व, रिकार्ड व भूमि-अधिग्रहण जैसे नियम, कानून और व्यवस्था उपनिवेशवादी शासकों की ही देन है जिसका खामियाजा आजादी के छह दशकों बाद भी किसान भुगत रहे हैं।

भारत में एक बड़ी आबादी किसानों की है और भारत की अर्थव्यवस्था में किसानों का बहुत बड़ा योगदान भी है। लेकिन भारत के किसान दो जून की रोटी के लिये भी मोहताज हैं और उन्हें देखने वाला कोई नहीं है न ही कोई राजनेता या न ही समाज के रहनुमा आज पंजाब, बिहार, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश कमोबेश सबमें हालात एक हैं। दूसरे को भरपेट भोजन उपलब्ध करवाने वाले ये किसान खुद भूखे सोने को मजबूर हैं। कभी बाढ़ ने तो कभी सूखे ने इन्हें तबाह किया है। सरकारें मुआवजे का ऐलान तो कर देती हैं पर उसे ज़मीन तक उतारना अपना कर्तव्य नहीं समझतीं। जिससे किसान आत्महत्या करने को मजबूर होते हैं। सिंगूर, भट्टा-पारसौल से लेकर सांगली तक किसान पुलिस की गोली से मारे जा रहे हैं। पुलिस की गोली से मरने वालों का सरकारी आंकड़ा तो उपलब्ध नहीं है लेकिन एक अनुमान के अनुसार ये सभी गोली से मरने के अलावा

कर्ज में डूबे और सरकारी नीतियों से ऊबे किसानों द्वारा आत्महत्या करने का सिलसिला भी थमने का नाम नहीं ले रहा है। किसानों के नाम पर देश भर में इतना पैसा सरकारों द्वारा दिया जाता है उसके बाद भी यदि किसान आत्महत्या करने को मजबूर है तो कहीं न कहीं सरकार की लाचारी और योजना में खामियों को दर्शाता है।

सरकारी नीतियों के कारण छोटे और मंझोले किसान जिनके पास दो से तीन एकड़ ज़मीन है उसको उपज के लिए जितनी लागत लगती है, उतनी कीमत उसे नहीं मिलती। खेती के लिए आवश्यक बीज, खाद, डीजल, कीटनाशक मजदूरी के पैसे के लिए, साहूकार से कर्ज लेते हैं। जरूरत मंद किसान कर्ज लेकर खेती करता है, जब फसल होती है, उन्हें बेचकर साहूकार का कर्ज चुकता है। ब्याज के पैसे बढ़ते जायेंगे इसलिए उसे खेत या खलिहान में ही फसल को औने-पौने दाम में बेचना पड़ता है। किसान को भी अपनी घर-गृहस्थी के गुजर-बसर के लिए अन्य सामग्री बाजार से खरीदनी होती है। बैंकों से मिलने वाला कर्ज अपर्याप्त तो है ही, साथ ही उसे पाने के लिए खूब भागदौड़ करनी पड़ती है। इस दशा में किसान आसानी से साहूकारी कर्ज के चंगुल में

फंस जाते हैं। किसानों की आत्महत्या के पीछे कर्ज एक बड़ा कारण है। लघु और सीमांत किसानों के लिए बगैर कर्ज से खेती करना लगभग असंभव हो गया है। सरकार का तमाम कोशिशों और दावों के बावजूद कर्ज के बोझ तले किसानों की आत्महत्या का सिलसिला नहीं रूक रहा है। देश में हर महीने 70 से अधिक किसान आत्महत्या कर रहे हैं, जबकि एक लाख 25 हजार परिवार सूदखोरों के चंगुल में फंसे हुए हैं। सूचना के अधिकार कानून के तहत मिली जानकारी के अनुसार, देश में 2008 से 2011 के बीच देशभर में 3,340 किसानों ने आत्महत्या की। इस तरह से हर महीने देश में 70 से अधिक किसान आत्महत्या कर रहे हैं। आरटीआई के तहत कृषि मंत्रालय के कृषि एवं सहकारिता विभाग से मिली जानकारी के अनुसार, 2008 से 2011 के दौरान सबसे अधिक महाराष्ट्र में 1,862 किसानों ने आत्महत्या की। आंध्रप्रदेश में 1065 किसानों ने आत्महत्या की। कर्नाटक में इस अवधि में 371 किसानों ने आत्महत्या की। इस अवधि में पंजाब में 31 किसानों ने आत्महत्या की। जबकि केरल में 11 किसानों ने कर्ज से तंग आकर मौत को गले लगाया।

आरटीआई के तहत मिली जानकारी के अनुसार, देश भर में सबसे अधिक किसानों ने सूदखोरों से कर्ज लिया है। देश में किसानों के 1,25,000 परिवारों ने सूदखोरों एवं महाजनों से कर्ज लिया है जबकि 53,902 किसान परिवारों ने व्यापारियों से कर्ज लिया। बैंकों से 1,17,100 किसान परिवारों ने कर्ज लिया, जबकि सहकारी सोसाइटी से किसानों के 1,14,785 परिवारों ने कर्ज लिया। सरकार से 14,769 किसान परिवारों ने और अपने रिश्तेदारों एवं मित्रों से 77,602 किसान परिवारों ने कर्ज लिया। आत्महत्या करने वाले किसानों में सर्वाधिक तादाद लघु और सीमांत किसानों की हैं। इन किसानों की दशा पर केन्द्र और राज्य सरकार द्वारा सिर्फ तात्कालिक उपाय ही किए गए हैं। सरकार के पास लघु और सीमांत किसानों को सक्षम बनाने के लिए कोई दीर्घकालीन योजना

दिखाई नहीं देती। जब फसल होती है तो उसे कोई खरीदनेवाला नहीं होता। धान, गेहूँ आदि को लागत मूल्य पर भी साहूकार नहीं खरीदते न ही सरकार के पास सही व्यवस्था है कि वे उनके उत्पाद को खरीदकर उचित भण्डारण की व्यवस्था कर सके। भण्डारण की व्यवस्था साहूकारों के पास है और वे सस्ते में माल खरीदकर रख लेते हैं और दाम बढ़ने पर धीरे-धीरे निकालते हैं। कई बार हमने देखा सुना है कि फसल के उचित दाम नहीं मिलने पर किसान अनाज को सड़कों पर फेंक, अपना विरोध दर्ज करते हैं पर उससे भी सरकार की सेहत पर कोई फर्क नहीं पड़ता है और ये हर साल की कहानी है और अगर हमें पता है कि किस फसल या उत्पाद की कमी होने वाली है? तो या तो उसके उत्पादन के लिए समुचित संसाधन और प्रोत्साहन की व्यवस्था की जाए और अगर जरूरत हो तो आयात भी समय पर किये जाएं या कोई फसल आवश्यकता से अधिक है, तो उसका सही भंडारण किया जाय या निर्यात की व्यवस्था करे। पर यह सब व्यवस्था कौन करेगा। हालात यह है कि फसल अच्छी हो या खराब किसान का नुकसान निश्चित है। सरकार और सरकारी मशीनरी सचमुच किसान का भला चाहती है तो उसे भी अपने उत्पाद के लागत के आधार पर उसके मूल्य निर्धारण की स्वतंत्रता होनी चाहिए। उन्हें नित्य नई तकनीक से परिचित कराना चाहिए। मानसून पर निर्भरता कम कर, समुचित सिंचाई के साधन विकसित किये जाने चाहिए। जिसके लिए राष्ट्रीय बजट में व्यवस्था की जानी चाहिए और उसका ईमानदारी से पालन होना चाहिए। कृषि उत्पादों के उचित भण्डारण की व्यवस्था हो, मांग के अनुसार फसल के उत्पादन किये जाएं, उसके संरक्षण और संकलन की सही व्यवस्था हो, कृषि उत्पादों पर आधारित उद्योग लगाये जाएं और विकसित किये जाएं तो मासूम किसान राजनीति और पुलिस की गोली दोनों का शिकार होने से बचेगा।

-डा.आशीष वशिष्ठ

सामाजिक बदलाव और जनता

सा सामाजिक बदलाव में जनता की क्या भूमिका है? अक्सर यह प्रश्न आढ़े-तिरछे ढंग से उठता रहता है और आजकल तो एक महानुभाव 'मैं आम आदमी हूँ' की टोपी पहनकर घूम रहे हैं और भारतीय समाज के मसीहा बनने के लिए छटपटा रहे हैं। उनकी यह छटपटाहट उनके पूंजीवादी पार्टियों के सिरमौरों के ताजे-बासी खुलासों के साथ जनता को ललकारने और कुछ जनलोकपालनुमा रामबाण औषधि पेश करने में देखी जा सकती है।

आधुनिक समाज में राजनैतिक व सामाजिक संगठन जनता के नाम पर या उसकी तथाकथित भलाई के लिए ही अपने सभी कार्यक्रम, नीतियां व योजनाएं पेश करते हैं। अक्सर बातें इस तरह की होती हैं कि कुछ लोग जनता को ठग-लूट रहे हैं और कुछ लोग हैं जो जनता को इससे बचाना चाहते हैं। राजनैतिक पार्टियां और इन पार्टियों के नेता, मीडिया जनता को कुछ यूँ पेश करता है मानो वे निरीह जीव हों, भेड़ या मेमने हों जिन्हें कोई दिशा देने वाला, मार्ग दिखाने वाला नहीं मिल रहा है।

जनता बेचारी है। जनता लाचार है। जनता इससे बढ़कर भेड़िया धसान है। अक्सर ही 'लोकतंत्र' को 'भीड़तंत्र' की संज्ञा देते हुए लोग मिल जाते हैं। क्या ये

बात सच हैं? नहीं ये निश्चित वर्ग के हितों से उपजा सोच व तर्क है। सवाल फिर यही है कि सामाजिक बदलाव में जनता की भूमिका आखिर है क्या? क्या सवाल सिर्फ ईमानदार नेता, समूह व पार्टी भर का है। क्या किसी अवतार, मसीहा के आ जाने भर की देरी है और फिर सामाजिक बदलाव जिसकी दरकार है, हो जायेगा। समय-समय पर ऐसे नमूने, समाज में नमूदार होते रहे हैं। जो ऐसा सोचते हैं कि और अक्सर ही खुद को अवतार, नायक या मसीहा के रूप में पेश करते हैं और कभी-कभी एक समय के लिए यह भ्रम पैदा भी कर देते हैं कि वे ऐसे हैं और अपने अनुयायियों का एक ताना-बाना बुन भी लेते हैं।

धार्मिक गुरु और उनके नेतृत्व आधार पर खड़े सम्प्रदाय की तो इस संदर्भ में क्या बात की जाए, राजनैतिक पार्टियों को भी इस संदर्भ में देखा जा सकता है। भारतीय समाज में कई पार्टियों के उत्थान-पतन की कहानियां ऊपरी तौर पर ऐसी ही जान पड़ सकती हैं। परन्तु जैसे ही सतह के नीचे की परिघटना पर गौर किया जाता है तो हम पाते हैं कि समाज में बदलाव के कुछ वैसे ही नियम हैं जैसे हमें प्रकृति व विज्ञान में दिखायी देते हैं। कुछ ऐसी चीजें व शक्तियां हैं जो एक समय में एक खास तरह के समाज का तो दूसरे समय में दूसरी

तरह के समाज का निर्माण करती हैं। 'दास समाज' एक समय की तो 'सामन्ती समाज' दूसरे समय की तो वर्तमान 'पूंजीवादी समाज' एक तीसरे समय की पैदायश थे। कुछ निश्चित नियमों के तहत ये पैदा होते हैं और उन्हीं नियमों के तहत तिरोहित हो जाते हैं। वर्तमान पूंजीवादी समाज अपने तिरोहण के दौर से गुजर रहा है। यह अपनी मृत्यु की ओर अग्रसर है।

आज भारतीय समाज में क्यों इतनी पार्टियां, संस्थायें हैं और क्यों आज से दो सौ साल पहले नहीं हो सकती थी, इस सवाल का जवाब सामाजिक नियमों के आधार पर ही मिल सकता है। एक तरह के समाज का पैदा होना और उस समाज का मिटाना हमें यह बतलाता है कि हमारे समाज में बदलाव कैसे होगा और उसमें जनता की क्या भूमिका होगी। और इसमें ही इस सवाल का जवाब भी है कि सामाजिक बदलाव में 'किस' जनता की भूमिका होगी और 'कौन' इस बदलाव के खिलाफ होगा।

असल वर्गों में बटे हुए समाज में जनता की वर्ग निरपेक्ष परिभाषा नहीं हो सकती है। ब्रिटिश उपनिवेशवादियों व उनके भारतीय समाज में आधार बने राजे-रजवाड़ों को आजादी पूर्व के भारत में कोई भी जनता नहीं कहेगा। और इसी तरह आज के भारत में पूंजीपतियों अफसर,

नौकरशाहों अमीर भूस्वामियों आदि को जनता नहीं कहा जा सकता है। भारत में शासन करने वाले इस वर्ग को वर्तमान समाज-पूंजीवादी समाज-में कोई सामाजिक बदलाव नहीं चाहिये। उसके हित, जिन पर वह शासन कर रहा है, के हितों से भिन्न नहीं, एकदम विपरीत हैं। वे जनता के हितों के खिलाफ हैं। आज भारत के मजदूर, निम्न मध्यम वर्ग आदि को ही जनता कहा जा सकता है।

शोषित-उत्पीड़ित आबादी ही है जिसे सामाजिक बदलाव चाहिये और खासकर ऐसा सामाजिक बदलाव चाहिये जो उसे शोषण-उत्पीड़न से मुक्त करे। और ऐसा बदलाव शासक वर्ग का कोई हिस्सा, कोई पार्टी, कोई व्यक्ति नहीं ला सकता है। ऐसा बदलाव उसे स्वयं ही लाना होगा। कभी मार्क्स ने कहा था, 'मजदूर वर्ग की मुक्ति स्वयं मजदूर वर्ग का कार्य है'। यह कार्य शासक वर्ग का नहीं है।

हालांकि उसके कई सदस्य, कई पार्टियां, संस्थायें इस बात का दावा करती हैं कि वे ऐसा कर सकती हैं या करती हैं। यह सच नहीं झूठ है। शासक वर्ग के कई सदस्य नये रूप धरकर इस काम को करने की कोशिश करते हैं कि वे पूरी जनता के प्रति फिक्रमंद हैं। वे ऐसा समाज बनाना चाहते हैं जहां गरीबी, बेरोजगारी, असमानता, शोषण-उत्पीड़न न हो। और

अक्सर ही यह बात पेश की जाती है कि असली सवाल समाज में वितरण का है। यदि चीजें जिसमें अनाज से लेकर सामाजिक प्रगति की तमाम चीजें शामिल हैं, का यथोचित बंटवारा हो जाये तो समाज सुखी और बराबर हो जायेगा। लोहिया, नेहरू जैसे का समाजवाद वितरण की समस्या को हल करने के रूप में ही आता है। परन्तु सवाल वितरण से आगे सामाजिक उत्पादन के साधनों के मालिकाने का है।

भारतीय जनता को जिस सामाजिक बदलाव की आवश्यकता है उसकी केन्द्रीय धुरी इसी प्रश्न के हल होने और करने में ही है कि कैसे भारत के मजदूरों-किसानों को सामाजिक उत्पादन के साधनों पर मालिकाना है। इस सवाल के हल होते ही भारतीय समाज में उस सामाजिक बदलाव की शुरुवात हो जायेगी जिसका लक्ष्य समाज में शोषण-उत्पीड़न का पूर्ण खात्मा होगा। वर्गों पर आधारित समाज व्यवस्था का नाश होगा। ऐसा सामाजिक बदलाव एक सामाजिक क्रांति की मांग करता है और यह क्रांति मजदूरों के नेतृत्व व उसके संगठन के जरिये ही सम्भव हो सकती है। इस मामले में 1917 की रूस की अक्टूबर क्रांति हमारे सामने एक उदाहरण के रूप में है।

-नागरिक